सत्यांश

क्या समाज का कोई एक मानक है अथवा हो सकता है? समाज चाहे कितना ही छोटा दो-तीन व्यक्तियों का ही क्यों न हो, उसका एक निश्चित मानदंड निर्धारित करना असंभव है, जिस पर उचित-अनुचित का निर्णय किया जा सके। अकेले व्यक्ति के लिए मानक तैयार करना भी कठिन है, क्योंकि भिन्न-भिन्न मनोदशाओं एवं बाहरी स्थितियों में उसके सोचने-समझने और करने का अंदाज अलग होता है। एक समय जो उचित लगता है, वही अन्य स्थिति में बुरा लगता ही नहीं, बुरा होता भी है। अनेक बार लगता तो बुरा अवश्य है, इसकी परख और समझ भी होती है; परंतु व्यक्ति आदत, स्वभाव, मजबूरी या उत्तेजना वश इसे करता है। कई बार यही अनुचित आपद्धर्म का उचित व्यवहार लगता है। फिर वह समाज भी क्या, जो दो-तीन व्यक्तियों का ही हो? अवश्य हो सकता है। व्यक्ति अकेला भी समाज होता है यदि वह अपनी जरूरतों, उद्देश्यों की पूर्ति स्वयं के स्तर पर कर ले तो। पहले के ऋषि-तपस्वी बरसों-बरस अकेले में रहकर वैराग्य भाव से चिंतन-मनन व साधना किया करते थे। उनके चिंतन में 'समाज बोध' एवं 'मानव-बोध' जितना सशक्त होता था, उतना शायद हमेशा समाज में रहने वाले सामाजिकों में नहीं। नियम, नैतिकता, आचरण का कोई रूप नहीं, जो सदैव ही उचित हो। छोटे-से-छोटे समाज के लिए भी ऐसा सहज रूप में संभव नहीं है। संविधान व कानून द्वारा जिन नियमों के पालन करने की बाध्यता बनाई गई है, उनका भी लोग स्वेच्छा से कम, ऊपर से दिखावटी निर्वाह अधिक करते हैं। उन्हें मन से तोड़ते रहते हैं या कम से कम दिल से पालन नहीं करते। दण्ड का भय, डर या 'पालन करना चाहिए' की भावना के तहत इसका पालन होता है। जिस नियम-कानून का भय से पालन किया जाए, वह पालन होकर भी नैतिकता से कोसों दूर होता है। नैतिक वह तभी कहा जाएगा जब वह बिना डर, भय, लोभ के दिल से सहर्ष पालित हो। तभी व्यक्ति व समाज को सुकून व लाभ मिलता है। फिर सब लोग नियम, कानून, नैतिकता का एक जैसा पालन ही कहाँ करते हैं। बहुत लोग उसे नैतिक, कानूनी मानते हैं, पर पालन नहीं करते। सजा का प्रावधान होने पर भी इसका बहुतायात में उल्लंघन होता है। इसका कारण भी फिर वही है कि ये नियम-कानून सबकी दिली इच्छा-स्वीकृति की उपज नहीं होते। ये सत्ताधारी वर्ग और बहुमत के बल की निर्मिति होते हैं। सत्ताधारी-बहुमत वाले लोग भी ऐसे जो खुद इनकी धज्जियाँ उड़ाते-उड़वाते हैं, अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु ही इनका इस्तेमाल करते हैं। जहाँ ये कानून उनकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधक होते हैं, वहाँ कानूनी आवरण के भीतर रहकर भी गैर-कानूनी अनैतिक स्वार्थ-साधना करते हैं। ऐसे उदाहरण अनगिनत हैं और जहाँ ऐसा नमूना सीधे प्रत्यक्ष नहीं है, वहाँ तह तक जाने पर सामने आ सकता है। ऐसे में किसी व्यक्ति, समाज या राज्य-राष्ट्र को चलाने के लिए कैसा नियम-कानून बने, जिसका पालन सब लोग हृदय से करें? इसकी खोज गंभीर समस्या है। फिर नियम-कानून चाहे कुछ भी हो, कोई भी हो, उसमें कुछ-न-कुछ छेद होगा ही और ऐसे में एक तरफ उसके पालन का ढोंग रचा जाएगा, तो दूसरी तरफ उसकी अवहेलना भी होती रहेगी। उनमें से कुछ सामने आएँगे, तो बहुत कुछ खुलने से सदैव बचे रहेंगे। कुछ लोग इन्हें आरोपित नैतिक नियम की तरह पालन भय से करते रहेंगे। क्या किसी नियम-कानून का इससे अलग या बेहतर कोई हश्र नहीं हो सकता?

यह प्रश्न इसलिए भी उपस्थित हुआ है, क्योंकि पिछले महीने दिल्ली में सामूहिक बलात्कार की एक चर्चित घटना से कानून, नैतिकता, अपराध, स्त्री-विमर्श, आंदोलन, लोकतंत्र, फिल्म-संगीत, प्रशासन, पुलिस, राजनीति, सरकार व राजनेता, संत-महात्मा आदि को और आदि पर नए ढंग से सोचने की ललक दिखी। मुद्रित व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से लेकर अनेक स्तरों पर बहस, चर्चा व आंदोलन सामने आए। यौन अपराध को केन्द्र में रखकर बदलाव की जरूरत महसूस की गई। मोटे तौर पर सख्त कानून, त्वरित न्याय व्यवस्था एवं मानसिकता में बदलाव की अनिवार्यता बताई गई। निश्चित रूप से इस एक घटना ने जितना लोगों को आंदोलित किया, उतना सैकड़ों घटनाएँ नहीं कर सकीं, परंतु घटना की भयावहता उसकी प्रसिद्धि-कुप्रसिद्धि के आधार पर तो नहीं आँकी जा सकती। जो सैकड़ों घटनाएँ, दुर्घटनाएँ, षडयंत्र, अपराध, रोजाना होकर भी आँखों से ओझल रहते हैं, उनको भी ध्यान में रखना पड़ेगा और नियम-कानून ऐसा निर्मित करना होगा जो एक घटना की भयावहता रोकने की बजाय दिखी-अनदिखी सभी घटनाओं को रोकने में कारगर सिद्ध हो। देखा गया है कि अपराधों पर नियंत्रण की भूमिका वाले तंत्र घटनाओं के बढ़ने पर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित व फलता-फूलता पाते हैं। आखिर यदि अपराध न किया-कराया जाए तो पुलिस, वकील व अदालतों को कौन पूछेगा? यदि रोग न बढ़े तो चिकित्सालयों और चिकित्सकों से कौन दो-चार होगा? बेशक इनकी अनुपस्थिति में भी रोग और फरियादी की समस्या के निदान की समस्या उत्पन्न होगी। लेकिन समाज में इनका अस्तित्व न केवल कायम रहे, बल्कि फले-फूले, क्या इसीलिए समस्याएँ रहनी चाहिए? जितनी तरह के अपराध इनके अस्तित्व को टिकाए रखते हैं, उनसे कहीं कम नहीं इनके खुद के आस-पास और इनके द्वारा अपने स्तर पर होते हैं। आखिर कौन नहीं जानता कि कानून के रक्षक खुद भ्रष्टाचार, दलाली, नियम-विरुद्धता, शाब्दिक-मानसिक प्रताड़ना सहित अनेकस्तरीय उत्पीड़न के केन्द्र बन चुके हैं। इसलिए कोई भी भला सच्चा आदमी इनके यहाँ यदि अधिक मजबूरी न हो तो जाना नहीं चाहता, क्योंकि यहाँ मुर्दों को मरा साबित करने के लिए भी रिश्वतखोरी-दलाली, ब्लैकमेलिंग होती है। इनके न रहने पर भी चारों ओर अराजकता छा जाएगी, क्योंकि समाज चाहे लाख विकसित होने का दंभ भरे, पर नैतिकता वाले नियम का अपने आप पालन करना नहीं जानता और जानता भी है तो स्वार्थों के लिए ही अपने सुविधानुसार इसे अपनाता है। ऐसे में अपराध रुके तो रुके कैसे? तमाम तरह की शिक्षा, उन्नति-विकास के बावजूद व्यक्ति-समाज का आडंबरी

होना और नैतिकता का ह्रास बड़ी समस्या है। यदि कोई ऐसा नैतिक व्यक्ति हो भी, तो उसे 'नियंत्रक तंत्र' अपने नापाक आगोश में लेने को तत्पर है। जो नैतिक रूप से सशक्त रहे हैं, उन्हें ही सर्वप्रथम भ्रष्टाचार, दुराचार, दलाली का शिकार बनाकर यह समूचा तंत्र व्यक्ति व समाज को पतन के गर्त में ढकेलता है, तो फिर उपाय क्या है?

जो समाज जितना विशाल व प्राचीन होने का दावा रखता है और वास्तव में ऐसा हो भी और उसके बाद आयातित अथवा स्वतः-विकसित नवीनता ओढ़ने का प्रयास करता है, उसमें कानून, नैतिकता व उसके पालन की समस्या उतनी ही जटिल होती है। राज्यादेश, कानून, संविधान सामूहिक, पर सपाट रूप में लागू होते हैं, जहाँ सामाजिक-सामूहिक आवरण तो होता है, पर सामूहिक मन-व्यवहार नहीं। भारतीय समाज में भी यही समस्या है, चाहे तो इसे गुण मान लें या अवगुण; परंतु यह सच्चाई है कि प्रत्येकस्तरीय विविधताएँ इतनी गहरी हैं कि इनका आदर्श आवरण 'विविधतामयी एकता' को बनाना पड़ा है। इसमें दिखावा अधिक है, आंतरिक लयात्मकता कम। यों यहाँ के महापुरुषों व सद्ग्रंथों में तो विविधता में एकता की अनुभूति अति-प्राचीन है। संभवतः जब से सृष्टि है, तभी से यहाँ का दर्शन-चिंतन ही नहीं, व्यवहार भी तद्नुरूप था, लेकिन आज का व्यक्ति और समाज अपनी जड़ से बहुत दूर चला गया है, फिर भी दिखावे का आवरण जरूर लादे हुए है, जो धीरे-धीरे चिथड़ा बन रहा है। इसीलिए चाहे मोहन भागवत का बयान कि 'बलात्कार गाँवों और भारत की बजाय शहर और इंडिया में अधिक होते हैं', या कैलाश विजयवर्गीय द्वारा किसी लक्ष्मण रेखा की बात हो या आशाराम बापू का दुराचार पर बयान, सब अंशतः तो ठीक हैं, पर पूर्णतः नहीं। दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि ये पूर्णतः गलत भी नहीं हैं। इसके लिए तथ्यों का सहारा लिया जा सकता है, पर तथ्य तो तथ्य हैं और तर्क तर्क। इसीलिए इसे दूसरे रूप में समझना जरूरी है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने इसी 'एकता' और 'अनेकता' पर विचार व्यक्त किया है कि परमात्मा बिना किसी खंड या शाखा-विभाग के एक अपार आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों में खंड-खंड यानी विभक्त-सा भी स्थित प्रतीत होता है-

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।

यहाँ विभागरहित होकर भी विभक्त-सा प्रतीत होने की बात परमात्मा के संबंध में कही गई है, तो पर भी यह बात 'मूल तत्त्व' पर लागू होती है चाहे यह तत्त्व प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष हो, भाव-विचार ज्ञान रूप में हो या दृश्य प्रकृति के व्यवहार रूप में हो। जो अखंड है, वह खंड-खंड हो सकता है, उसी में परस्परसंबद्धता की जरूरत भी होती है और खंडन का आधार विभेद भी मौजूद रहता है। दूसरी ओर जो खंड-खंड है, उसे जोड़ा जा सकता है, जोड़ने की आवश्यकता भी वहीं है। खंड-खंड ही जुड़कर अखण्ड बनता है। जैसे सबमें है ईश्वर, यानी खंड-खंड है और सर्वत्र एकसमान व्याप्त है, यानी अखण्ड है। सृष्टि के पूरे कार्य-व्यवहार व विज्ञान इसी सिद्धांत के मूलाधार पर टिके हैं। अणु-परमाणु इसकी निर्मितियाँ हैं। यदि वास्तव में यही सच है तो फिर विचार-भाव व नैतिक नियम व कानून कोई एक क्यों नहीं हो सकता, जो सब पर समान रूप से लागू हो और सबकी अलग व स्वतंत्र विशिष्टता का रक्षण भी करे। यह अलग-अलग लिंगों, क्षेत्रों, भाषाओं, संस्कारों, जातियों, वर्गों, संप्रदायों, धर्मों, नस्लों, संस्कृतियों में खंड-खंड रूप में हार्दिक धरातल पर सहर्ष स्वीकृत भी हो। आजकल का हमारा नियम-कानून निजता-विशिष्टता को फलने-फूलने का अवसर तो नहीं ही देता, अपने आंडबरों-दिखावे के कारण बहुसंख्यक लोगों के मन-मस्तिष्क में भी नहीं उतरता। लोगों को उल्टी दिशा में जाने से नहीं रोक पाता। लोग इसके विपरीत आचरण करके भी एक खास किस्म के सुख-आनंद का अनुभव करते हैं। कहीं इसके पालन करने की खुशी कम, मजबूरी का गम अधिक है, तो कहीं इसके उल्लंघन में मजबूरी कम; साहस, बल अधिक झलकता है। यह भयानक विद्रूपता है। दूसरी ओर, जो एक जगह कानून का डंडा दिखाते हैं, तो दूसरी जगह कानून, नैतिकता का स्वयं पालन करने वालों को सिर्फ अपनी अहमियत प्रदर्शित करने और अपनी कारगुजारी दिखाने के लिए घृणित तरीके से फाँसते हैं।

चर्चित कांड के कारण बलात्कार के लिए कड़ी से कड़ी सजा का प्रावधान किए जाने की माँग हुई है; परंतु हमें ध्यान रखना होगा कि जैसे मूल तत्त्व की अखण्डता और खंड-खंड व्याप्ति सर्वत्र है, कुछ-कुछ वैसे ही बलात्कार अपराध भी अन्य अनेक दुराचारों से अभिन्न रूप से संबद्ध है, इसलिए इसका समाधान अन्य समस्याओं से जुड़कर करना होगा। चाहे कुछ भी कर लें, सिर्फ बलात्कार के सारे कारकों का निदान करके इसे नहीं रोका जा सकता और फिर इसी एक समस्या के सारे कारणों की पड़ताल और निवारण कहाँ हो रहा है? कैसे संभव है कि अन्य सारे दुराचार-भ्रष्टाचार होते रहें और यह बंद हो जाए? इसलिए दुराचारों को समूलतः खत्म करने का बीड़ा उठाना पड़ेगा। स्वयं 'दुराचार' शब्द को नए सिरे से देखना होगा; अवैध संबंध, शील-भंग, इज्जत लूटना, देह-व्यापार, कॉल गर्ल्स, जिगोलो, ब्लेकमेलिंग आदि को पुनर्परिभाषित करना होगा। चाहे दुराचार पुरुष पक्ष का हो या स्त्री-पक्ष का, चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, चाहे अनैतिक होकर भी कानूनसंगत हो अथवा गैर-कानूनी होकर भी प्रचलित हो तो इनके उन्मूलन का उपाय ढूँढ़ा जाना चाहिए समग्रता में, अन्यथा बाकी कानूनों की तरह यह कानून भी रहेगा, लेकिन अपराध भी ज्यों-के-त्यों ही नहीं, अपितु बढ़ेंगे भी। इसलिए जोर अपराध के बाद की सख्ती की बजाय पहले के उपायों पर अधिक होना चाहिए ताकि अपराध न हों, अन्यथा अत्यल्प हो।

यात्रा...अंतिम यात्रा : कहाँ से कहाँ तक ?

एक ठेठ कहावत है कि 'सब दिन सेवे काशी, मरे के बेर ऊसरवासी' अर्थात् सब दिन काशी में रहकर जीवन व्यतीत हुआ; परंतु मरने के वक्त ऊसर स्थान पर चले गए। हिन्दू धर्म में काशी को पुण्य स्थान का दर्जा प्राप्त है और माना जाता है कि यहाँ मरने वालों को मुक्ति मिलती है। पर बात इतनी सीधी नहीं है। सदैव अच्छा-से रहकर अंत बुरे में करने पर अफसोस होता है। 'अंत' का महत्त्व कम नहीं है, बल्कि 'अंत' के आधार पर मूल्यांकन होता है। इसीलिए कहा जाता है कि 'अंत भला तो सब भला।' यह निष्कर्ष, निचोड़, फल-परिणाम, मंजिल, चरम सीमा

है। वैसे 'अंत' शब्द कर्म-व्यवहार, लोक व्यवहार में अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि यही किसी वस्तु के अस्तित्व के खत्म होने की अवस्था है। पर अच्छा लगे या न लगे, पर यह हर आदि-उत्स का परिणाम है। आदि-आरंभ, जन्म-उत्पत्ति के साथ ही अंत, इति, समाप्ति भी निश्चित है। इसलिए 'अंत' से बचने का उपाय नामुमकिन है। अंत तभी नहीं होगा, जब आदि-आरंभ न हो। जितना अधिक और जितना विशाल आरंभ होगा, उतना ही अधिक अंत रिक्तिदायक होगा। इसलिए इस 'अंत' से मुक्ति का उपाय वास्तव में जन्म-आरंभ से मुक्ति का उपाय है। इसी को भारतीय दर्शन में मोक्ष कहा गया है। यह कैसे मुमकिन है कि आरंभ हो, पर अंत न हो। इसलिए अंत से बचना है तो आरंभ से बचना होगा; परंतु आरंभ आकर्षक होता है और अंत विकर्षक। 'अंत' से बचे रहना जितना सुकुनदायक लगता है, उतना ही शुरूआत करना अच्छा। पर अंत से छिपकर सिर्फ आरंभ-ही-आरंभ कैसे हो? प्रत्येक आरंभ मोह, आसक्ति से लेकर प्रेम, ऊर्जा और आशा-आकांक्षा लिए होता है, जबकि अंत शोक, दुख, निराशा से लेकर त्याग लिए होता है। मनुष्य की दिक्कत यह है कि वह आरंभ की आकर्षक चरमावस्था का सुख-आनंद तो लेना चाहता है, लेकिन अंत-समाप्ति के त्याग का आर्कषण नहीं अपनाना चाहता। अंत में शोक, दुख, रुदन के साथ जो त्याग दर्शाता है, वह उसका मजबूरी का त्याग है, जिस पर उसका कोई भी वश नहीं चला होता है।

अंत सब चर-अचर चीजों का तय है। जीवन के संबंध में अंत ज्यादा खराब लगता है; परंतु अंत चाहे किसी का भी हो अच्छा नहीं, होता, पर स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति की निंरतरता कायम रखने हेतु दूसरे के अस्तित्व का 'अंत' किया जाता रहा है। वह अंत मनुष्य के हित में होने के कारण बुरा नहीं माना जाता। छोटी मछलियों का अंत बड़ी मछलियों का भोजन है, चूहे की मौत बिल्ली की खुराक है। पेड़-पौ धों का अंत हमारा ईंधन है, फसलों का अंत हमारा भोजन है। जीर्ण-शीर्ण का क्षय नए के आगमन की सूचना है, पतझड़ वसंत की प्रतीक्षा है। इसके उलट वसंत पतझड़ की भूमिका भी है। पर हम जितनी जल्दी व आसानी से दूसरी वस्तुओं के अंत को नवीनतम के आने की अकुलाहट में स्वीकार कर लेते हैं, उतनी तीव्रता से क्यों नहीं जीवन की अंतिम यात्रा को मानव जीवन की अगली नवीन यात्रा की शुरूआत मान लेते? अपने जीवन के 'अंत' पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं, दूसरे के जीवन पर उसका नियंत्रण कुछ जरूर है। तभी तो किसी हरे पेड़, नई इमारत, यौवन से लबालब बकरी-सुअर-गाय, नव पल्लवित फूलों, फलों, सब्जियों के अंत को बड़ी आसानी से निर्माण के उसूलों से जोड़कर उसके अंत को पचाया जाता है। यदि किसी नई बिल्डिंग को तोड़कर अपने ढंग की इमारत बनानी हो तो व्यक्ति बना ही देता है, पहले को तोड़ने में हिचक नहीं दिखाता। उसके सामने निर्माण का स्वप्न होता है। ठीक ऐसे ही प्राकृतिक शक्तियाँ सृष्टि एवं उसके जीवों के बारे में तय करती हैं। तब जीव अकाल-अकाल, अंत कहकर चिल्लाता है, पर उन शक्तियों के सामने भी नए निर्माण का सपना रहता होगा जो मनुष्य सहित बाकी जीवों को समझ में नहीं आता।

'अंत' चाहे विकर्षक लगता हो, पर अंत का महत्त्व कम नहीं है, अंत ही पूरी प्रक्रिया का चरम निर्णायक है। यह निष्कर्ष, फल और त्याग है। इसीलिए 'अंत' ठीक होना चाहिए चाहे वह किसी भी चीज का क्यों न हो। 'चरैवेति-चरैवेति', चलते रहो, चलते रहो भी का मूल मंत्र यहीं आकर समाप्तप्राय हो जाता है। इसलिए जीवन की अंतिम यात्रा का ज्यादा महत्त्व है। मृत्यु के बाद पार्थिव शरीर की लोगों द्वारा करायी गई यात्रा ही अंतिम यात्रा के रूप में प्रचलित है, इसलिए पूरे धार्मिक कर्मकांड से पुण्य स्थल पर यह कार्य नियोजित होता है। यह मृत्यु को प्राप्त हुए को अंतिम विदाई है। मनुष्य के अंत का अनुमान होने पर तरह-तरह के लौकिक-आर्थिक अनुष्ठान, यज्ञ-कीर्तन, गंगा जल आदि द्वारा मन शुद्ध करने का प्रयास किया जाता है।'अंत' समय की मनःस्थिति को श्रीकृष्ण ने व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य अंत काल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है - 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेश्वरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।।'

यहाँ अंतिम क्षण में उसी भाव-विचार-विधान को सहज संभव बताया गया है, जिसमें व्यक्ति सदा से भावित रहने का अभ्यस्त रहा है। यह काफी महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि आम तौर पर यह रूढ़ि व्याप्त है कि कुछएक तीर्थों, गंगा स्नान, यज्ञ-अनुष्ठान से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गीता के इस कथन से स्पष्ट है कि एक झटके में न तो पुण्य मिलता है और न ही पाप खत्म होता है। ये सब क्षणिक उपक्रम भी उसी के लिए फलप्रद होते हैं जो निरंतर पुण्यवान है, शुद्ध व पवित्र है। खैर, जैसे सब दिन काशी में रहकर अंत में ऊसरवासी होने का दर्द होता है, वैसे हमेशा ऊसरवासी रहकर भी पुण्यस्थल पर प्राण त्यागने से कोई खास फायदा नहीं होने वाला। जीवन के बाद अंतिम यात्रा परिजनों द्वारा संपन्न करायी जाती है, जहाँ चंदन की लकड़ी से लेकर बैंड-बाजे और न जाने सामर्थ्यानुसार कितने विधि-विधान किए जाते हैं, वे सब सामाजिक स्थिति और आंडबर सहित होते जा रहे हैं। अब इसमें जाने वाले अधिकतर लोग दुखी, शोकग्रस्त दिखाई नहीं देते, जितना पहले होते थे। वहाँ भी राजनीति, अर्थनीति का प्रदर्शन होता है, अंतिम यात्रा और देह-विसर्जन भी औरों के लिए पर्यटन की तरह होते जा रहे हैं।

हम जिसे अंतिम यात्रा कह रहे हैं, क्या वास्तव में वही अंतिम यात्रा है? क्या मृत्यु ही जीवन का अंत है, बेशक शरीरांत तो है ही। पुनर्जन्म के अनुरूप दूसरा जन्म हो भी, तब भी वह जीवन नया ही होता है। इसकी विगत जीवन से कड़ियाँ मिलाना मुश्किल होता है, हालाँकि श्रीकृष्ण जीवन की शाश्वतता ही प्रकट करते हैं कि न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ही ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। इस पर विश्वास ही है, अनुभव कम। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जीवन यात्रा की मंजिल क्या है? मृत्यु या कुछ और? मृत्यु चाहे जीवन का लक्ष्य हो या ना हो, पर परिणति-परिणाम तो है ही। इस पथ के राही हम सब हैं, सारी यात्राओं की पूर्णाहुति इसी अंतिम पड़ाव पर होनी है। पर याद रहे जो लोगों द्वारा पार्थिव शरीर की अंतिम विदाई करायी जाती है, वह अंतिम यात्रा के रूप में रूढ़ तो है, पर जो हम खुद से अंतिम यात्रा करते हैं, वही असली अंतिम यात्रा है। ✱